# दशवैकालिक और जीवन का व्यावहारिक दृष्टिकोण

□ साध्वी श्री कनकश्री

(युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी की शिष्या)

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। अनन्त विरोधी धर्म-युगलों के साथ सामंजस्य स्थापित कर चलते रहना ही जीवन की पूर्णता है। अनन्त ज्ञेय-धर्मों का भी सीमित संवेदन से ज्ञान करने का प्रशस्त साधन है, हमारे पास स्याद्वाद। पर एक साथ अनन्त धर्मों का ज्ञान व्यवहार्य नहीं हो पाता। व्यवहार्य है हमारे लिए नयवाद या स्याद्वाद। उसके सहारे हम अनभीप्सित वस्त्वंश को निराकृत किये बिना ही अभीप्सित अंश का बोध या प्रतिपादन कर सकते हैं।

निश्चय और व्यवहार हमारे चिन्तन के दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न रूपों में निश्चय और व्यवहार दोनों की सत्ता को स्वीकार किया है। जैन-दर्शन ने जिसे निश्चय और व्यवहार की अभिधा से अभिहित किया, बौद्ध दार्शनिकों ने उसे परमार्थ सत्य तथा लोक-संवृत्ति सत्य से पहचाना और सांख्य दर्शन ने उसे परमब्रह्म तथा प्रपंच कहकर पुकारा।

स्याद्वाद की भाषा में निश्चय और व्यवहार परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। एक ही वस्तु के सहभावी व अवश्यंभावी धर्म हैं, इस दृष्टि से दोनों में अद्वैत है।

निश्चय वस्तु का आत्मगत धर्म है। वह सूक्ष्म है। व्यवहार वस्तु का देह-धर्म है। वह स्थूल है। इस स्वरूप-द्वैध से इन दोनों में द्वैत भी है।

यद्यपि निश्चय, निश्चय ही है और व्यवहार, व्यवहार। इनमें स्वरूपैक्य नहीं हो सकता। निश्चय हमारा साध्य है तथापि उसका साधक है व्यवहार। इसलिए सभी दार्शनिकों ने निश्चय के साथ व्यवहार को तत्त्व रूप में स्वीकार किया है। यहाँ तक कि व्यवहार को जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। यह उचित ही है।

क्योंकि निश्चय जहाँ उन्नत और गिरि-शृंग है, वहाँ व्यवहार उस तक पहुँचने के लिए घुमावदार पगडण्डी। पथिक उसके बिना सीधा पर्वतारोहण कर सके, यह सम्भव नहीं।

निश्चय फलगत रस है और व्यवहार है उसकी उत्पत्ति, वृद्धि और संरक्षण का हेतुभूत ऊपर का कवर। निश्चय वाष्प यान है और व्यवहार गमन-साधक पटरी।

साध्यावस्था में हम निश्चयमय ही बन जाते हैं; पर साधनाकाल में निश्चय और व्यवहार दोनों घुले-मिले रहते हैं।

यह निर्विवाद सत्य है कि लक्ष्य प्राप्ति के बाद जीवन की पूर्णता में व्यवहार हमारे लिए अनुपयोगी है, उतना ही उपयोगी जीवन की अपूर्णता में वह है। वहाँ हम व्यवहार का त्याग कर चल नहीं सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार का अर्थ छलना तथा प्रवंचना नहीं है। उसका अर्थ है—यथार्थ कार्य को भी उस पर अपने बुद्धि-विवेक तथा कला का अवलेप लगाकर प्रस्तुत करना। व्यवहार जीवन का कलात्मक पक्ष है। दूसरे शब्दों में, कलात्मक जीवन-पद्धति का नाम ही व्यवहार है। सत्य और शिव को भी जैसे सौन्दर्य अपेक्षित है, वैसे ही यथार्थ-क्रिया भी कलात्मकता के बिना अधूरापन लिए रहती है। उसकी पूर्ति व्यवहार करता है।

व्यक्ति जहाँ अकेला होता है, वहाँ व्यवहार-पथ के अनुगमन की विशेष आवश्यकता नहीं रहती। पर जहाँ समाज होता है, वहाँ परस्परता होती है। जहाँ परस्परता होती है, वहाँ व्यवहार अत्यन्त अपेक्षित हो जाता है।

व्यवहार पक्ष की उपादेयता को अभिव्यक्त करते हुए कवि ने कितना सुन्दर पद्य लिखा है—

काव्यं करोतु परिजल्पतु संस्कृतं वा, सर्वाकलाः समधिगच्छतु वा यथेच्छम्।
लोकस्थितिं यदि न वेत्ति यथानुरूपां, सर्वस्य मूर्खनिकरस्य स चक्रवर्ती॥

प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त व्यक्ति भी यदि लोकव्यवहार से अनभिज्ञ है तो वह मूर्ख-चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित होता है।

यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयम्—इस पंक्ति ने तो लोक व्यवहार को इतना महत्त्व दे दिया है कि जिस कार्य को अपनी दृष्टि शुद्ध मानती है, तथापि यदि वह लोक-विरुद्ध है, तो उसका आचरण मत करो।

व्यवहार-कुशल व्यक्ति जहाँ पग-पग पर अप्रत्याशित सफलताएँ प्राप्त करता रहता है, वहाँ व्यवहार से परे रहने वाले को कदम-कदम पर असफलता का मुँह देखना पड़ता है।

इसीलिए विद्वान् लेखक की यह पंक्ति कितनी मार्मिक है कि 'जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है, अव्यावहारिक होना'। वाचक उमास्वाति ने इसी हार्द को प्रस्तुत करते हुए अपनी शिक्षात्मक रचना 'प्रशमरति-प्रकरणम्' में लिखा है—

लोकः सत्त्वाधारः सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मात्।
तस्माल्लोकविरुद्धं कार्यं, धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम्॥

निश्चय अदृश्य होता है, वह व्यवहार के द्वारा गम्य होता है। हमारी किसी के साथ कितनी ही सद्भावना क्यों न हो? हमारा अन्तःकरण कितना ही विशुद्ध क्यों न हो? पर जब तक वह व्यवहार में समवतरित नहीं होता, तब तक उसकी सच्चाई में कम ही विश्वास होता है।

व्यवहार की इस साध्य-साधकता तथा उपादेयता को दृष्टिगत रखते हुए भगवान महावीर ने साधक के लिए स्थान-स्थान पर उसकी उपयोगिता बताई है। यद्यपि आपने भी साधक के लिए दो साधना-क्रम प्रस्तुत किये हैं—जिनकल्पी तथा स्थविरकल्पी। जिनकल्पी सहायनिरपेक्ष एकाकी जीवन-यापन करते हैं, उनकी साधना विशिष्ट कोटि की होती है, अतः वे व्यवहारातीत तथा कल्पातीत हैं। स्थविरकल्पी संघीय जीवन यापन करते हैं। उनके लिए व्यवहार की भी अपनी सीमा तक आवश्यकता होती है।

आगे की पंक्तियों में भगवान् महावीर के व्यावहारिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायगा।

चिन्तन तथा भावनाएँ असीम हैं। उनका व्यास न हो। समास के लिए दशवैकालिक सूत्र ही मुख्य आधार रहेगा।

ओदन-पाक जानने के लिए दो चावलों की परीक्षा अपर्याप्त नहीं रह जाती।

भगवान् महावीर ने अनेकों ऐसे विधि तथा निषेधों के संकेत दिये हैं, जिनमें प्रत्यक्ष या परोक्ष सूक्ष्म स्थल दृष्टि से हिंसा आदि से बचने का ही दृष्टिकोण रहा है। पर कहीं ऐसे विधान व निषेध हैं, जहाँ हिंसा आदि से बचने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण अधिक प्रबल रहा है। कहीं ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं कि जिन कार्यों के आचरण से हिंसा आदि की किंचित् भी संभावना नहीं है, फिर भी वे कार्य निषिद्ध हैं। इससे विदित होता है कि उनकी दृष्टि में व्यवहार-कुशलता को कितना ऊँचा स्थान था। नीचे की पंक्तियों में आपका व्यावहारिक दृष्टिकोण अतीव प्रशस्तता लिए उभरा है।

साधुत्व स्वीकरण के बाद साधक की दिनचर्या का एक महत्त्वपूर्ण अंग है—भिक्षाचर्या। क्योंकि बिना भिक्षा के उसे कोई भी आवश्यक वस्तु प्राप्त नहीं हो पाती। भगवान् ने इसीलिए कहा है कि "सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं" साधु की सब वस्तुएँ याचित होती हैं, अयाचित कुछ नहीं होता। अतः आपने भिक्षा की भी सुन्दर मार्मिक तथा सुन्दर विधि प्रदान की, क्योंकि महत्त्व कार्य का जितना नहीं होता उतना विधि का होता है।

प्रत्येक कार्य के पीछे क्यों ? कब ? और कैसे ? ये जिज्ञासाएँ उभर ही जाती हैं। इन तीनों जिज्ञासाओं को सुन्दर समाधान देने वाली कार्य पद्धति ही व्यावहारिक उच्चता प्राप्त कर सकती है।

भिक्षा के लिए कब जाए ? इसका सुन्दर समाधान देते हुए भगवान ने कहा कि जब भिक्षा का समय हो।[1] क्योंकि काल का अतिक्रमण कर भिक्षार्थ जाने वाला भिक्षु निन्दा, तिरस्कार तथा अविश्वास का पात्र बन सकता है।

भिक्षार्थ जाता हुआ मुनि असंभ्रान्त रहे।[2] यद्यपि यह संभ्रान्ति अनेकों दोषों का उद्गम-स्थल है, तथापि संघीय जीवन की सरसता तथा माधुर्य विनष्ट न हो जाए अतः यह महान् उपयोगी व्यावहारिक निर्देश है।

भिक्षाचारिका करता हुआ मुनि मन्द-मन्द चले।[3] यद्यपि भिक्षु के लिए उपयोगपूर्ण शीघ्रगति अविहित नहीं है। फिर भी यदि भिक्षार्थ जाते समय वह त्वरता करता है तो व्यवहार में अच्छा नहीं लगता। दूसरे लोग उसके बारे में विभिन्न अनुमान लगा सकते हैं। जैसे यह भिक्षु इसलिए जल्दी-जल्दी चलता है कि कहीं अमुक परिवार में अमुक भिक्षु पहले न चला जाए। फिर अमुक वस्तु मुझे नहीं मिलेगी।

दूसरे स्थान में यह भी बताया गया है कि साधु दब-दब करता न चले, अतिशीघ्र न चले।[4] इससे प्रवचन लाघव होता है।

गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि मार्ग में, आलोक-गवाक्ष, झरोखा, खिड़की, थिग्गल—घर का वह द्वार जो किसी कारणवश पुनः चिना गया हो, सन्धि—दो घरों के बीच की गली अथवा सेन्ध—दीवाल की ढकी हुई सुराक और जल-मंचिका अथवा जलगृह को ध्यानपूर्वक न देखे। वे शंका-स्थान हैं।[5] उन्हें इस प्रकार देखने से लोगों को मुनि पर चोर तथा पारदारिक होने का सन्देह हो सकता है।

मुनि गृहपति—इभ्य, राजा और आरक्षकों के रहस्यमय स्थानों में न जाए तथा उनके समीप भी खड़ा न रहे। क्योंकि वे स्थान संक्लेशकर हैं।[6] इनका वर्जन इसलिए किया गया है कि इन रहस्यमय गुह्य स्थानों में जाने से साधु के प्रति स्त्रियों के अपहरण करने का तथा मन्त्रभेद होने का सन्देह हो सकता है। सन्देहवश साधु को गिरफ्तार किया जा सकता है। अन्य भी अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाए जा सकते हैं, जिससे व्यर्थ ही साधु को अवहेलना का पात्र बनना पड़े।

---

१. दशवैकालिक : ५।१।१ : संपत्ते भिक्ख कालम्मि।
२. वही, ५।१।१.
३. वही, ५।१।२ : "चरे मन्दमणुव्विगो।"
४. दशवैकालिक : "दवदवस्स न गच्छेज्जा।"
५. वही, ५।१।१५.
६. वही, ५।१।१६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षु प्रतिकुष्ट कुलों में भिक्षार्थ न जाए।[1] प्रतिकुष्ट का शाब्दिक अर्थ है, निन्दित, जुगुप्सित तथा गर्हित। वे दो प्रकार के होते हैं—अल्पकालिक और यावत्कालिक। अल्पकालिक मृतक सूतक आदि के घर हैं। यावत्कालिक डोम, मातंग आदि के घर।

यह स्पष्ट है कि यह निषेध व्यावहारिक भूमिका को छूने वाला है। क्योंकि उपरोक्त कुलों में भिक्षा करने से साधक की साधना में क्या बाधा आ सकती है? इस प्रश्न को समाहित करते हुए टीकाकार लिखते हैं—जुगुप्सित कुलों की भिक्षा लेने से जैन शासन की लघुता होती है।[2]

जैन-दर्शन के अध्येता इस बात से अनभिज्ञ नहीं कि वह जातिवाद को तात्त्विक नहीं मानता। उसके आधार पर किसी को हीन तथा जुगुप्सित मानना हिंसा है। फिर भी प्रतिकुष्ट कुलों की भिक्षा का निषेध किया गया है। जहाँ तक हम समझ पाये हैं, वैदिक परम्परा के बढ़ते हुए प्रभाव को ध्यान में रखकर, व्यवहार-पालन को मुख्यता देना ही इसका प्रमुख कारण हो सकता है।

भिक्षु संसक्त दृष्टि से न देखे।[3] यह सामान्य कथन है। इसका वाच्यार्थ यह है कि साधु व साध्वी क्रमशः बहिन तथा भाई की आँखों में आँखें गड़ाकर न देखें। इस निषेध के दो कारण बताए गए हैं—पहला निश्चय की भूमिका पर अवस्थित है कि आसक्त दृष्टि से देखने पर ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित होता है। दूसरा व्यवहार की भूमि पर खड़ा है कि हृदय शुद्ध होने पर भी इस प्रकार देखने से लोक आक्षेप कर सकते हैं कि यह मुनि विकारग्रस्त है।

भिक्षा ग्रहण करते समय भिक्षु भैक्ष्य-पदार्थ तक ही दृष्टि प्रसार करे। अति दूरस्थ वस्तुओं को, गृह के कोणों आदि को न देखे। इस प्रकार देखने से मुनि के चोर या पारदारिक होने की आशंका हो सकती है।[4]

भिक्षार्थ गृहस्थ के घर में प्रविष्ट मुनि, विकसित नेत्रों से न देखें। इससे मुनि की लघुता होती है।

आहारादि के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने के बाद मुनि अन्दर कहाँ तक जाए? इसका संकेत देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—गृहस्वामी द्वारा अननुज्ञात या वर्जित भूमि में मुनि प्रवेश न करे।[5] यह प्रतिषेध भी अप्रीति-दोष को वर्जित करने के लिए ही किया गया है। मुनि के लिए स्नानगृह तथा वर्चःगृह को देखने का भी निषेध किया गया है।

भिक्षा में यदि अमनोज्ञ और अपथ्य जल आ जाए तो मुनि उसे गृहस्थों की भाँति इतस्ततः न फेंके। किन्तु उसे लेकर वह विजन भूमि में जाए और वहाँ शुद्ध भूमि पर धीरे से गिराए। ताकि गन्दगी न फैले। कितनी ऊँची सभ्यता की शिक्षा है यह। यदि गृहस्थ समाज भी इस पर अमल करे तो शहरी-गलियों में इतनी गन्दगी के दर्शन न करने पड़ें।

भिक्षाचरी की सम्पन्नता होने पर आहार की विधि बताते हुए कहा गया है कि सामान्यतः भिक्षा के अनन्तर आहार उपाश्रय में जाकर ही करें। यदि वह भिक्षार्थ दूसरे गाँव में गया हुआ हो और कारणवश वहाँ आहार करना

---

१. दशवैकालिक, ५।१।१७.
२. हारिभद्रीय टीका पत्र १६६ : एतान्न प्रविशेत् शासनलघुत्वप्रसंगात्।
३. दशवैकालिक : ५।१।२३ : असंसत्तं पलोएज्जा।
४. (क) वही : नाइदूरावलोयए।
   (ख) जिनदास चूर्णि, पृ० १७६ : "तओ परं घर-कोणादि पलोयन्तं दट्ठूण संका भवति किमेस चोरो पारदारिको वा होज्जा? एवमादी दोसा भवंति।"
५. दशवैकालिक ५।१।२३ : "उप्फुल्लं ण विणिज्झाए।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़े तो यदि साधु वहाँ पर हों तो वहाँ जाकर आहार करे। यह परस्पर प्रेम-संवर्द्धन तथा प्रेम-स्थायित्व का अनुपम साधन है।

यदि अन्यत्र भोजन करना पड़े तो जहाँ कहीं भिखारियों की भांति न खाए, किन्तु शून्यगृह या कोष्ठक में बैठकर विधिपूर्वक खाए।

आहार में ग्रास के साथ यदि कंकर, कंटक आदि आ जाएँ तो वहीं बैठा हुआ मुँह से न थूके किन्तु आसन से उठकर, कंकर आदि को हाथ से लेकर, एकान्त स्थान में धीरे से रखे।[1]

उपाश्रय में आकर आहार करने वाले मुनि के लिए भी अतीव मनोज्ञ तथा आकर्षक विधि बतलाई गई है।

मुनि उपाश्रय में प्रविष्ट होते समय 'रजोहरण' से पाद-प्रमार्जन करे और तीन बार 'निसीहि' शब्द का उच्चारण करे, जो कि मुनि के कार्य निवृत्त हो, स्थान-प्रवेश का सूचक है।

गुरु के समक्ष जाते ही बद्धांजलि हो 'णमो खमासमणाणं' कहकर गुरु का अभिवादन करे। यह विधि भी व्यवहार के अन्तर्गत ही है। इसका समावेश विनय के सात भेदों में से लोकोपचार विनय में होता है। लोकोपचार और व्यवहार एक ही तात्पर्यार्थ को बताने वाले शब्द हैं।

जिस क्रम से तथा जहाँ से भिक्षा ग्रहण की हो, गुरु के समक्ष उसकी आलोचना करे। वह भी गुरु की अनुज्ञा पाकर।

मुनि दो प्रकार के होते हैं। आहार विधि की अपेक्षा से पहले मण्डली के साथ आहार करने वाले और दूसरे अकेले आहार करने वाले। प्रथम प्रकार का मुनि जब तक मण्डली के सब मुनि न आ जाएँ, तब तक स्वाध्याय करे। न कि यह सोचकर कि मैं लाया हूँ, अतः इस आहार पर मेरा ही अधिकार है, अकेला खाने बैठ जाए। इससे पारस्परिक प्रेमपूर्ण सम्बन्धों में खटास आ सकता है।

अकेले आहार करने वाला भिक्षु भी भिक्षा लाकर मुहूर्त भर विश्राम करे। विश्राम के क्षणों में भिक्षार्पण सम्बन्धी चिन्तन करे। फिर आचार्य से निवेदन करे कि भगवन्! इस आहार से यथेच्छ आहार आप स्वीकार कर, मुझे कृतार्थ करें। यदि आचार्य न लें तो वह पुनः निवेदन करे, भन्ते! इस भैक्ष्य से आप अतिथि, ग्लान, शैक्ष, तपस्वी, बाल तथा वृद्ध इनमें से किसी को देना चाहें तो दें। प्रार्थना स्वीकार कर यदि आचार्य अतिथि आदि को दें तो प्रसन्नमना वह साधु अवशिष्ट आहार को आचार्य की अनुज्ञा पाकर स्वयं खा ले। यदि आचार्य कहें कि तुम ही साधर्मिकों को निमन्त्रित कर यदि उन्हें आवश्यकता हो तो दे दो। तब वह स्वयं मुनिजनों को सादर निमन्त्रित करे। वे यदि निमन्त्रण स्वीकार कर लें तो उनके साथ भोजन करे। यदि वे निमन्त्रण न स्वीकारें तो अकेला ही भोजन कर ले।

यहाँ सत्कारपूर्वक निमन्त्रण देने का उल्लेख किया गया है क्योंकि अवज्ञा से निमन्त्रण देना साधु-संघ का अपमान करना है। कहा भी है—

एगम्मि हीलियम्मि, सव्वेते हीलिया हुन्ति।
एगम्मि पूइयम्मि, सव्वेते पूइया हुन्ति॥ (ओघनिर्युक्ति, गाथा ५२६-२७)

जो एक भी साधु का अपमान करता है, वह सब साधुओं का अपमान करता है। जो एक का सत्कार करता है, वह सबका सत्कार करता है।

---

१. दशवैकालिक, ५।१।८४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काले कालं समायरे[1] से ही मुनि की दिनचर्या सुन्दर तथा आकर्षक बन सकती है। यह एक सुन्दर व्यवस्था है। व्यवस्था से सौन्दर्य निखार पाता है।

यदि व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के लिए समय विभक्त हो जाए और ठीक उसी समय में वह संपादित किया जाए तो कभी दौड़-धूप न करनी पड़े। इससे हमारे सभी कार्य आसानी से सध सकते हैं। समय का बचाव हो सकता है और किसी भी कार्य के लिए जल्दबाजी नहीं करनी पड़ती। इससे स्नायुयों का तनाव नहीं बढ़ता और उससे अस्वास्थ्य भी नहीं बढ़ता।

समय की पाबन्दी के अभाव में जल्दबाजी करनी पड़ती है। उससे स्नायविक तनाव बढ़ता है और उससे शारीरिक रोग भी अंगड़ाइयाँ लेकर जग उठते हैं। इससे सारी व्यवस्थाएँ गड़बड़ा जाती हैं। हम जिस दिन जो कार्य करना चाहते हैं, वह हो नहीं पाता।

महात्मा गांधी ने लिखा है—कार्य-अधिकता व्यक्ति को नहीं मारती किन्तु समय की अव्यवस्था उसे बुरी तरह मार डालती है।

कार्य-व्यवस्था जहाँ साधक की चित्त-विक्षिप्तता को रोक मनःस्थैर्य प्रदान करती है, वहाँ बाह्य व्यवहार को भी सुघड़ बना देती है।

यद्यपि यह भिक्षा का प्रसंग है। अतः स्थूलरूपेण यही आभासित होता है कि भिक्षा के समय भिक्षा करनी चाहिए, लेकिन 'काले कालं समायरे' यह पद अपने आप में जितना अर्थ-वैशद्य छिपाए हुए है कि मुनि की प्रत्येक क्रिया के लिए यथाकाल संपादन करने का संकेत देता है। सूत्रकृतांग के चूर्णिकार भी इसी का अनुमोदन करते हुए लिखते हैं कि मुनि भिक्षा के समय भिक्षा करे, खाने के समय खाए, पीने के समय पीए, वस्त्र काल में वस्त्र ग्रहण करे। लयनकाल (गुफादि में रहने के समय अर्थात् वर्षाकाल में) में लयन करे। सोने के समय सोए।

समय नियमितता का महत्त्व निश्चय दृष्टि से तो है ही, क्योंकि उसके व्यतिक्रम से चित्त-विक्षेप होता है और मानसिक समाधि में विघ्न होता है। पर व्यवहार भी अपनी स्वस्थता खो देता है। वह मुनि लापरवाह कहलाता है।

भिक्षार्थ गया हुआ मुनि गृहस्थ के घर में न बैठे। न ही, वहाँ कथा-प्रबन्ध करे।[2]

भिक्षु भिक्षा ग्रहण करे, उतने काल तक उसे वहाँ खड़ा रहना पड़ता है, यह निश्चित है। पर खड़ा कैसे रहना चाहिए, इसका भी विवेक भगवान ने साधक को दिया है।

मुनि अर्गला, परिधा, द्वार, कपाट, भित्ति आदि का सहारा लेकर खड़ा न रहे।[3] इससे मुनि की असभ्यता लगने से लघुता होती है और कहीं गिर पड़ने से चोट लगने का भी भय रहता है।

भक्त-पान के लिए मुनि गृहस्थ के घर जाता है, तब यदि द्वार पर कोई श्रमण, ब्राह्मण, कृपण तथा भिखारी खड़े हों तो उनका उल्लंघन कर, अन्दर प्रवेश न करे और न गृहस्वामी तथा श्रमण आदि की आँखों के सामने खड़ा रहे। वनीपक आदि को लांघकर, अन्दर प्रवेश करने से गृहपति तथा वनीपक आदि को साधुओं से अप्रीति हो सकती है अथवा जैन-शासन की लघुता प्रदर्शित होती है।

गृहस्वामी द्वारा प्रतिषेध कर देने पर अथवा दान दे देने पर, जब वे श्रमणादि लौट जाएँ, तब मुनि उस घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट हो।[4]

---

१. दशवैकालिक, ५।२।४.
२. दशवैकालिक, ५।२।८.
३. दशवैकालिक, ५।२।२५.
४. वही, ५।२।१०, ११, १२, १३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि सामुदायिक भिक्षा करे। केवल जुगुप्सित कुलों को छोड़कर अन्य उच्च, नीच कुलों का भेदभाव न रखते हुए सर्व घरों से भिक्षा ले। यह न हो कि वह क्रमगत भी नीच कुलों को छोड़कर केवल बड़े-बड़े घरों की ही भिक्षा कर ले।[1] क्योंकि इससे जातिवाद को बढ़ावा मिलता है। साधारण व्यक्ति सोचते हैं कि मुनि जी भी हमारी भिक्षा न लेकर हमारा तिरस्कार कर रहे हैं।

प्रयोजनवश गृहस्थ के घर जाए तो मुनि उचित स्थान पर खड़ा रहे तथा मित बोले।[2]

साधु अनेकों कुलों में जाता है। अनेकों व्यक्तियों से सम्पर्क साधता है। कानों को अनेकों बातें सुनने को मिलती हैं। आँखों को अनेकों दृश्य देखने को मिलते हैं। पर साधक को दृष्ट तथा श्रुत सभी बातें कहना उचित नहीं।[3]

यह विचारधारा अहिंसा की सकल भित्ति पर तो सुस्थिर है ही पर इस आदर्श से संघीय तथा सामाजिक जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ते-बिगड़ते बच जाते हैं। उनमें अपूर्व माधुर्य टपक जाता है।

साधु मनोज्ञ आहार तथा अन्य वांछित पदार्थ न मिलने पर बकवास न करे। उसका वाक्य प्रयोग संयत हो।

मुमुक्षु मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करे। क्योंकि क्रोध प्रीति का, अभिमान विनय का, माया मित्रों का, तथा लोभ सर्वहितों का विलोप करने वाला है।[4]

मुनि रात्निक मुनियों का विनय करे।[5] अट्टहास न करे।[6]

इहलौकिक तथा पारलौकिक हित साधन में निरत साधु, बहुश्रुत (जिसने श्रुत का बहुत अध्ययन किया है अथवा आचार्य, उपाध्यायादि) की पर्युपासना करे तथा तत्त्व का निश्चय करे।

उपासना के समय गुरु के पास कैसे बैठे? इसकी विधि बताते हुए लिखा है—जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर तथा शरीर को संयत रखे। अर्थात् हाथों को न नचाए, पैरों को न फैलाए और शरीर को आलस्यवश न मोड़े। गुरु के पास आलीन गुप्त होकर बैठे। आलीन अर्थात् थोड़ा लीन। तात्पर्य की भाषा में जो गुरु के पास न अति निकट और न अति दूर बैठे, वह 'आलीन' कहलाता है। गुरु के शब्द श्रवण में दत्तावधान तथा प्रयोजनवश सीमित वाग्व्यवहार करने वाला 'गुप्त' कहलाता है। संक्षेप में शिष्य को गुरु के सान्निध्य में 'आलीन गुप्त' ही बैठना चाहिए।[7] गुरु के समीप बैठने की और भी विधियाँ बताई गई हैं। जैसे—शिष्य गुरु के पार्श्वभाग में, आसन्न न बैठे, बराबर न बैठे, आगे न बैठे, पीछे न बैठे और उनके घुटने से घुटना सटाकर न बैठे।[8]

तात्पर्य की भाषा में पार्श्वभाग के निकट बराबर बैठने से शिष्य द्वारा समुच्चारित शब्द सीधा गुरु के कानों में प्रवेश करता है। जिससे गुरु की एकाग्रता भंग हो सकती है।

गुरु के आगे अत्यन्त निकट बैठने से अविनय होता है तथा दर्शनार्थियों के गुरु-दर्शन में वह व्याघात होने का निमित्त बन जाता है।

---

१. दशवैकालिक, २।५.
२. वही, ८।९.
३. दशवैकालिक, ५।८।२०.
४. वही, ८।३६-३७.
५. वही, ८।४०.
६. वही, ८।४१.
७. वही, ८।४४.
८. वही, ८।४५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीछे बैठने के निषेध का भी यही कारण हो सकता है कि पीछे भी सट कर न बैठे। एक कारण यह भी हो सकता है कि पीछे बैठने से गुरु के मुख-दर्शन नहीं हो पाते। उसके अभाव में शिष्य गुरु के इंगित और आकार को समझ नहीं पाता।

गुरु के घुटनों से घुटना सटाकर बैठने से भी विनय का अतिक्रमण होता है। अशिष्टता द्योतित होती है। सारांश की भाषा में मुनि किसी भी स्थिति में असभ्य तथा अविनयपूर्ण पद्धति से न बैठे।

मुनि बिना पूछे तथा निष्प्रयोजन न बोले। दो व्यक्ति परस्पर बात कर रहे हों अथवा गुरु किसी के साथ वार्तालाप कर रहे हों, उस हालत में 'यह कार्य ऐसे नहीं, बल्कि इस प्रकार हुआ था' इत्यादि रूप में न बीच में बोले। चुगली—परोक्ष में दोषोद्घाटन न करे।[1] वचन-व्यवहार के विषय में भी साधु को सतर्क रहना आवश्यक है। वह जन-भाषा का अन्धानुगमन न करे।

जिस विषय को अपनी आँखों से देखा हो, वह भी यदि अनुपघातकारी हो तो अमन्द और अनुच्च स्वर के साथ सभ्यतापूर्वक कहे।

भाषा भी प्रतिपूर्ण—स्वर-व्यंजन, पद आदि सहित तथा स्पष्ट होनी चाहिए। भाषा के अस्पष्ट तथा स्खलित होने पर सुनने वाला एक बार में आशय नहीं समझ सकता। बोलने वाले को भी पुनः-पुनः बोलना पड़ता है। उस पर भी न समझने पर श्रोता को भी झुंझलाहट आ सकती है। अतः एक बार सुनते ही भाषा का आशय हृदयंगम हो जाए, ऐसी स्पष्ट तथा शालीन भाषा बोलना चाहिए।

वाक्य-रचना के नियमों तथा प्रज्ञापना-पद्धति को जानने वाला और नयवाद में निष्णात मुनि यदि बोलता हुआ स्खलित हो जाए, वर्ण, वचन तथा लिंग का विपर्यास कर बैठे, तो भी श्रोता मुनि उसका उपहास न करे।[2]

धर्म का मूल विनय है और उसका परम है मोक्ष।[3] जैनागमों में विनय शब्द का प्रयोग आचार और उसकी विविध धाराओं के अर्थ में हुआ है। नम्रता उस व्यापक विनय-सरिता की एक धारा है। औपपातिक में सात प्रकार के विनय का उल्लेख मिलता है, उसमें सातवाँ प्रकार है, उपचार विनय।

यद्यपि विनय का सीधा सम्बन्ध है, अपनी आत्मा से। विनय अपना ही होता है, अन्य का नहीं। क्योंकि आत्मा का सहज नम्रभाव ही तो विनय है। फिर भी पूर्वाचार्यों ने उपचार-विनय, व्यवहार-विनय को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

गुरु तथा रत्नाधिक मुनियों के आगमन पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना तथा भक्ति और शुश्रूषा करना उपचार विनय है।[4]

उपचार-विनय आचार-विनय की पृष्ठभूमि है। दशवैकालिक में उपचार विनय का सुन्दर दिग्दर्शन मिलता है। जैसे आहिताग्नि ब्राह्मण, आहुति और विविध मन्त्रपदों से अभिषिक्त पंचाग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञान से उपपेत होता हुआ भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा-भक्ति करे।[5]

---

१. दशवैकालिक, ८।४६

२. वही, ८।४९.

३. वही, ९।२।२.

४. अब्भुट्ठाणमंजलिकरणं, तहेवासणदायणं।
गुरुभत्ति भाव सुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ॥

५. दशवैकालिक, ९।१।११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस मुनि से धर्मपदों की शिक्षा ग्रहण करे, उसके साथ शिक्षार्थी मुनि विनय का प्रयोग करे। उसे बद्धांजलि तथा नत-मस्तक हो वन्दन करे। वह मन, वाणी तथा काया से सदा उसका विनय करे।[1] आगम-ज्ञान में तत्पर मुनि, आचार्य के आदेश का लंघन न करे।

विनेय आचार्य की शैया (बिछोना) से अपनी शैया नीचे स्थान में करे। गति भी नीची रखे अर्थात् आचार्य के आगे-आगे न चले। पीछे चले। चूर्णिकार लिखते हैं—शिष्य गुरु के अति समीप तथा अति दूर न चले। अति समीप चलने से रजकण उड़ते हैं, गुरु की आशातना होती है। अति दूर चलने से प्रत्यनीकता का आभास मिलता है।

आचार्य जहाँ खड़े हों, शिष्य उनसे नीचे स्थान में खड़ा रहे। चूर्णि के अनुसार नीचे स्थान में भी गुरु के आगे तथा बराबर खड़ा न रहे। अपना आसन भी गुरु के आसन से नीचा बिछाए।

शिष्य नत होकर गुरु-चरणों में वन्दन करे। यद्यपि आचार्य ऊपर आसन पर विद्यमान हैं और शिष्य नीचे खड़ा है तथापि वह सीधा खड़ा-खड़ा वन्दन न करे अपितु चरण-स्पर्श हो सके उतना झुक कर करे। सीधा खड़े रहकर वन्दन करने से उनका अक्कड़पन आभासित होता है।

वन्दना के लिए भी सीधा खड़ा-खड़ा हाथ न जोड़े। नीचे झुके।[2] आचार्य के निश्रित उपकरणों से यदि शिष्य का अनुचित स्पर्श हो जाए, पैर लग जाए, ठोकर लग जाए, तो वह बद्धांजलि और नत-मस्तक हो निवेदन करे कि भगवन्! मेरे अपराध के लिए क्षमा करें। भविष्य में मैं ऐसा अपराध न करने का संकल्प करता हूँ।[3]

पूज्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—आलोइयं इंगियमेव नच्चा, जो छन्दमाराहयइ स पुज्जो।[4] विनीत शिष्य गुरु द्वारा आदिष्ट कार्य तो करता ही है पर इसी में उसके कार्य की 'इतिश्री' नहीं हो जाती। वह गुरु के निरीक्षण तथा इंगित को देखकर भी उनके अभिप्राय को समझ लेता है और कार्य सम्पादन में जुट जाता है।

**आलोकित से कर्त्तव्यबोध**—जैसे शरद्-ऋतु है। आचार्य वस्त्र की ओर देख रहे हैं। इतने मात्र से विनीत समझ लेता है कि आचार शीतबाधित हैं, उन्हें वस्त्र की अपेक्षा है और वह तुरन्त उठकर गुरु को वस्त्र दे देता है।

**इंगित से कर्त्तव्यबोध**—जैसे आचार्य के कफ का प्रकोप है। दवा की आवश्यकता है पर उन्होंने किसी को कुछ कहा नहीं। फिर भी विनीत शिष्य गुरु के इंगित मनोभावों को व्यक्त करने वाली अंग-चेष्टा से समझ लेता है और उनके लिए सौंठ ले आता है।

भिक्षु का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जो भिक्षा लाकर साधर्मिकों को निमन्त्रित कर, भोजन करता ह, वह भिक्षु है।[5] जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहलपूर्ण अंगचेष्टा नहीं करता, वह भिक्षु है।

दशवैकालिक सूत्र में ऐसे और भी अनेकों उल्लेख मिलते हैं, शिक्षाएँ उपलब्ध होती हैं जो सामूहिक जीवन-व्यवहार को सँवारती हैं तथा उसमें रस भरती हैं।

यह तो हम पहले ही जान चुके हैं कि जीवन की अपूर्ण अवस्था में या यूँ कहें कि साधना-काल में, निश्चय तथा व्यवहार परस्पर जुड़े हुए हैं। इनमें इतना गहरा सम्बन्ध है कि एक-दूसरे को विलग करना आसान नहीं है।

---

१. दशवैकालिक, ९।१।१२।

२. वही, ९।१।१७।

३. वही, ९।२।१८।

४. वही, ९।३।१।

५. दशवैकालिक, १०।९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय यदि शुद्ध आत्मतत्त्व है तो व्यवहार है देह। क्या सांसारिक आत्मा देहमुक्त रह सकती है? जैसे संसारी आत्मा देह-मुक्त नहीं रह सकती और आत्म-शून्य शरीर भी शव की अभिधा से अभिहित होता है, वैसे ही व्यवहारशून्य निश्चय अदृश्य होने के कारण अनुपयोगी तथा अव्यवहार्य है तो निश्चयविहीन व्यवहार का भी दोष तथा प्रवंचना के अतिरिक्त मूल्य नहीं रह जाता अतः उक्त तथ्यों को हम निश्चय से परे रखकर, कलेवर के रूप में ही नहीं देख सकते। नैश्चयिक दृष्टिकोण तो उनमें निहित है ही, लेकिन यदि हम एक बार नैश्चायिक दृष्टि को गौण कर केवल व्यवहार की आँखों से देखें तो भी वे सूत्र हमारे जीवन में कितने उपयोगी हैं?

साधु संस्था को तो ये नियम मधुर तथा सुव्यवस्थित करते ही हैं पर इनका मूल्य राष्ट्रीय, राजनैतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक क्षेत्रों में भी कम नहीं है।

क्या ही अच्छा होता है यदि भगवान् महावीर के द्वारा निर्दिष्ट इन व्यावहारिक तथ्यों पर आज का जन-मानस अमल करता?

□

**सम्भाषमाणस्य गुरोस्त थैव,**
**व्याकुर्वतस्तात्त्विकबोध चर्चाम्।**
**यो नान्तराले वदतीह किंचित्,**
**स एव शिष्यो विनीयीति बोध्यः॥**

( श्री चन्दनमुनि रचित )
वर्धमान शिक्षा सप्तशती

गुरु किसी से सम्भाषण कर रहे हों अथवा तात्त्विक विवेचन या तत्वचर्चा कर रहे हों, तब जो बीच में नहीं बोलता वैसा शिष्य विनयी समझा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org